'सर्व सिद्धान्त समन्वय'

प्रकाशक—

शीतलप्रसाद असिस्टैन्ट कमिश्नर

बनारस।

मुद्रक—सहादुरराम,

हितैषी प्रिंटिंग वर्क्स, नीचीबाग, बनारस।

प्रथम वार] १९३५ ई० [मूल्य प्रेम
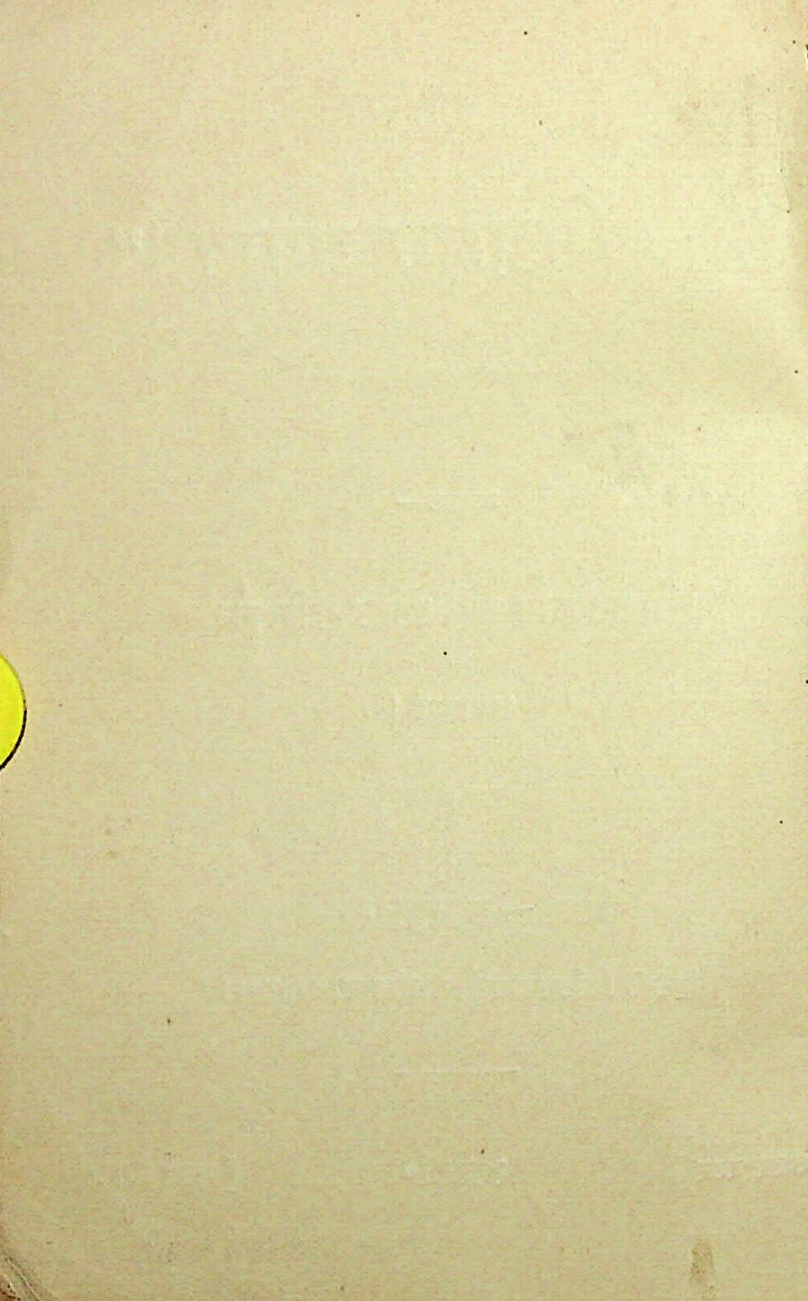
"किञ्चिद् वक्तव्य"

संसार-साराऽसार विचार-परायण-तत्त्वज्ञों से तिरोहित नहीं कि, उस परम-पद को पाये बिना जीव की सकलाऽनर्थ-विनिवृत्ति कदापि नहीं हो सकती ?

वेद, शास्त्र, पुराण-प्रतिपादित-सत्कर्म्माऽनुष्ठान द्वारा, अन्तःकरण के निर्म्मल होने पर ही उस आत्मतत्त्व, का साक्षात्कार होता है।

वेद, शास्त्र-विचार-जनित ज्ञान ही उसके अस्तित्त्व का साधक, तथा उसके प्राप्ति के हेतुभूत-उपासनादि साधनों का कारण है। वेद, शास्त्रों में भी तत्तत् अधिकारी भेद से कर्मोपासनादि तत्तत् साधन उपदिष्ट हैं।

जब रजस्तम की अधिकता से सत्त्व, का अभिभव होने पर मनुष्यों की अनधिकार चेष्टा द्वारा अत्यन्त अनर्थ होने लगा, तब उस परम कृपामय भगवान् ने तत्तत् आचार्य्य रूप से इस धरा मण्डल में अवतीर्ण होकर सकल जीव कल्याणार्थ. तत्तत् समयाऽनुसार विविध सम्प्रदायों की स्थापनायें कीं।

परन्तु कलिकाल के माहात्म्य से तत्तत् सम्प्रदायधर्माऽनुयायी विद्वान् भी साम्प्रत में परस्पर स्वसम्प्रदाय और स्वोपास्यदेव की उत्कर्षता, तथा अन्यान्य सम्प्रदाय व अन्योपास्य-देव की निन्दा करने में कुछ काल से बद्धपरिकर होकर निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं।

इस परमाऽनर्थ कारक प्रवृत्ति के स्रोत को निरुद्ध करने के लिये काशीस्थ कतिपय विद्वद्वर्य्यों के विशेष आग्रह करने पर "श्री प्रातः स्मरणीय, पूज्यपाद, श्री १००८ युक्त, श्री हरिहरानन्द सरस्वती" (परमहंस करपात्री) जी महाराज ने अपने अमृतमय वचनों से जो सर्व सम्प्रदाय सिद्धान्त की एकता प्रदर्शित करने की असीम कृपा की है, उन्हीं अमृतमय वचनों को लेखबद्ध करके "सर्व-सिद्धान्त-समन्वय" नाम से प्रत्येक धर्म्माऽवलम्बी भावुकों के कल्याणार्थ प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। निवेदक—

श्रीमच्चरण-षट्चरण-शरण-रजः स्पर्शाऽनुकम्पित-

त्रिपाठ्युपनामक प्रेमवल्लभ शास्त्री,
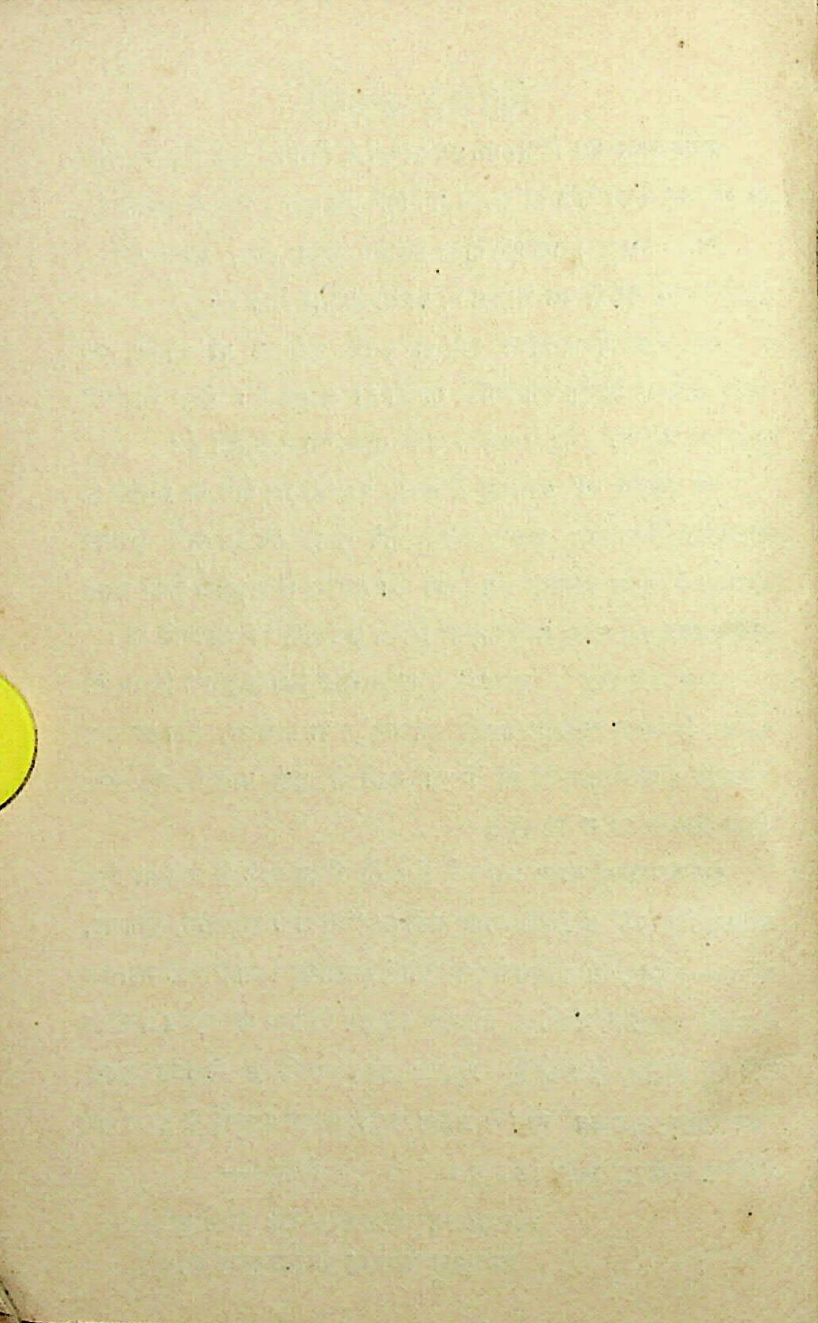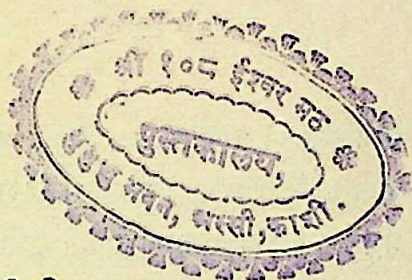
॥ ॐ श्रीहरिः शरणम् ॥

"सर्व सिद्धान्त समन्वय"

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै,
विवादसंवादभुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं,
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥ १ ॥

विदितवेदितव्य महानुभावों से तिरोहित नहीं कि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डगत विविधवैचित्र्योपेत भोग्यभोक्तृकर्तृकरणादिनिर्म्माण-पटीयसी अचिन्त्याऽनिर्वाच्यकार्य्यानुमेयस्वानुरूपरूपा श्रुतिसमधि-गम्य-याथातथ्यभावा अवान्तराऽनन्तशक्तिकेन्द्रभूता महाशक्ति जिन प्रत्यस्तमिताऽशेषविशेष मनोवचनातीत प्रज्ञानानन्दघन"

स्वमहिमप्रतिष्ठभगवान् के आश्रित होकर उन्हीं की महिमा से सत्ता स्फूर्ति प्राप्त करके सावधानी से जगन्नाट्यनियन्त्री होती हुई भी प्रभुकी भृकुटिविलासानुविधायिनी होती हैं, उन सकल-अकल्याण-गुणगणप्रत्यनीक-निखिल-कल्याण-गुण-गण-निलय, अचिन्त्यानंन्त-सौन्दर्यमाधुर्यसुधासिन्धु नटनागरमें समस्त परस्पर विरुद्धधर्मों का सामञ्जस्य होते हुये भी स्वमति-प्रभव-तर्क एवं स्वाभिमत-शास्त्र तदर्थ विवेचनादि द्वारा नानाप्रकार (का) विकल्प कुछ कालसे ही नहीं वरं अनादिकाल से करते हुए परीक्षक-दार्शनिक-वृन्द श्रवण-या दृष्टिगोचर होते आये हैं।

उन दार्शनिकों का, पारस्परिक अनेक-प्रभेद होते हुए भी भारतीय भाषा में वैदिक तथा अवैदिक शब्द से निर्देश किया जाता है, वेद-तन्मूलशास्त्रानपेक्षव्यक्ति-विशेष-निर्मितशास्त्र एवं स्वमतिप्रभव तर्कादि द्वारा तत्त्वों को निर्धारण करनेवाले अवैदिक कहलाते हैं, तद्विपरीत भ्रमप्रमाद विप्रलिप्सा करणापाटवादि पुरुष स्वभाव सुलभदोषसंसर्गरहित अपौरुषेय वेद तन्मूलशास्त्र तथा तत्संस्कार संस्कृत प्रज्ञातन्त्र तत्त्वनिर्धारण एवं तत्प्राप्त्यर्थ प्रयत्न करनेवाले वैदिक कहलाते हैं।

यद्यपि "भूतं भव्यञ्च यत् किञ्चित् सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" इस अभियुक्तोक्ति से तथा सूत्ररूप से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय,

विज्ञानमयाद्यात्मवाद, शून्यवाद, इत्यादि वेदों में पाये जाते हैं। तथापि न तो वे वाद सर्वथा सिद्धान्तरूप से वेदों में माने ही गये हैं, और न तत्तद्वादाभिमानी अपने वादों के वैदिकत्व में आग्रह या गौरव ही मानते हैं।

अतः उनके वैदिकत्वाऽवैदिकत्व में कोई विवाद नहीं। वैदिक सिद्धान्तियों का भी जब कि अंशभेद में प्रधान्याप्राधान्य भाव से वैमत्य ही नहीं प्रत्युत बाह्यों से भी अधिक पारस्परिक संघर्ष है, तब एक शृङ्खला-संबन्ध-शून्य परस्पर स्वतन्त्र विचारपद्धति को समाश्रयण करनेवालों में मतभेद तथा संघर्ष होना स्वाभाविक ही है।

परन्तु इतना होने पर भी क्या सभी सिद्धान्त सर्वांश में नितान्त भ्रममूलक अनिष्टप्रद हैं, अथवा सर्वांश में सभी प्रमामूलक एवं पुरुषार्थप्रद हैं, यह बात कोई भी बतलाने का साहस नहीं करता!

यह सत्य है कि स्वसिद्धान्तातिरिक्त सभी प्रायः भ्रममूलक एवं परमपुरुषार्थ से च्युति के हेतु हैं। ऐसे स्वगोष्ठीसिद्धसिद्धान्ताभिमानी आज भी कम नहीं है। एक-वस्तु-विषयक प्रमाज्ञान एक ही होता है, नानाज्ञान अयथार्थ होते हैं। एक-वस्तु-विषयक अनेक प्रतिपत्तियां अवश्य ही प्राणियों को भ्रम में छोड़ती हैं। उदाहरण के लिये जैसे आत्मादि विषयों में चार्वाक भूतचतुष्टय संघातात्मक देह को ही आत्मा, प्रत्यक्ष ही प्रमाण, विषयोपभोगादि

ही पुरुषार्थ तथा योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिकादि (१) प्रत्यक्ष क्षणिक वाह्यान्तर (२) अनुमेय वाह्योपप्लुत-प्रत्यक्ष आन्तरविज्ञान (३) क्षणिक विज्ञान सन्तति (४) शून्य-आदितत्व, प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण दृष्टाऽदृष्ट पुरुषार्थ मानते हैं।

एवं आर्हत देहादिव्यतिरिक्त शरीर परिमाणपरिमित आत्मा प्रत्यक्षाऽनुमान तथा तन्मूलक ही स्वाभिमत शास्त्रप्रमाण दृष्टाऽदृष्ट पुरुषार्थ मानते हैं।

नैयायिक, वैशेषिक, देहादिव्यतिरिक्त ज्ञानादिगुणवान् विभु अनेक आत्मा, तटस्थ ईश्वर, प्रत्यक्षादि आगमान्त या उपमानान्त प्रमाण, ऐहिकामुष्मिक फल पुरुषार्थ स्वीकार करते हैं।

सांख्य योग सिद्धान्तानुयायी व्यापक असङ्ग चैतन्य आत्मा, तद्व्यतिरिक्त क्लेश-कर्म-विपाकाशय-परामर्श-शून्य उभयनियन्ता परमेश्वर, प्रत्यक्षानुमानाऽऽगम प्रमाण, स्वात्मस्वरूप से अवस्थिति परमपुरुषार्थ मानते हैं। मीमांसक चेतनाचेतनात्मक आत्मा मानते हैं अर्थात् स्वयं अचेतन परन्तु वेदविहितप्रतिषिद्ध शुभाशुभ कर्मों से शुभाशुभ-ज्ञानाकार-परिणामी इत्यादि अनेक सिद्धान्त मनानेवाले हैं। उत्तरमीमांसकों में तो बहुत मतभेद हैं, क्योंकि प्रायः भारतीयों का अधिक तत्त्वान्वेषी सभ्यसमाज उसमें आदर रखता है। इसीसे शाक्तागम, शैवागम, वैष्णवागमादि पथानुयायियों की दृष्टि में

अपने आगमों का प्राधान्य होते हुए भी वादरायण महर्षि प्रणीत वैदिक-तात्पर्य्य-निर्णायक चतुर्लक्षणी उत्तरमीमांसा से अनुमत स्वसिद्धान्त होने से गौरव मानना उनके लिये अनिवार्य होगया।

इसी वास्ते अनेक महानुभावों ने उसे अपनाया और उस पर स्वाभिमत भाष्य टीका टिप्पणियाँ कीं। एकही शास्त्र में, नहीं ! एकही सूत्र में, सहस्रों भाव-पूर्ण गम्भीर व्याख्यान हों ! क्या उस शास्त्र सूत्र निर्माता या तदाधारभूत वेद भगवान् की महत्ता साधारण बुद्धि के बाह्य का विषय नहीं है ?

अस्तु, उत्तरमीमांसा-भाष्यकारों का अतिसंक्षिप्त प्रधान विषय दिखलाते हैं—द्वैतवादी प्रकृति, पुरुष, तथा परमेश्वर इत्यादि श्रुति सूत्र प्रति-पाद्य विषय मानते हैं।

अद्वैतप्रतिपादक श्रुति सूत्र प्रथम तो हैं ही नहीं, यदि हैं तो भी वे गौणार्थक हैं। अर्थात् उनका स्वार्थ में कुछ तात्पर्य्य नहीं है। ध्यान में रखना चाहिये कि पूर्वमीमांसक से लेकर उत्तरोत्तर सभी सिद्धान्तियों का "प्रमाणं परमं श्रुतिः" ऐसा उद्घोष है।

विशिष्टाद्वैतवादियों का कहना है कि अद्वैत नहीं है, यह कहना केवल धृष्टता है। जब कि अद्वैतवादिनी श्रुति विद्यमान हैं, तब उनका तात्पर्य्य अद्वैत में नहीं है यह भी कैसे कहा जा सकता है।

अतः चित् अचित् उभयविशेषण-विशिष्ट परमतत्त्व अद्वितीय है, और वही जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों ही कारण है। केवल निमित्त ही नहीं !

"नीलमुत्पलम्" तथा शरीर शरीरी के समान विशेषण विशेष्य का पारस्परिक-भेद होते हुए भी अभेद या अद्वैत सूपपन्न है।

इस पक्षमें भेदवादिनी तथा अभेद वादिनो दोनों ही प्रकार की श्रुतियों का सामञ्जस्य हो जायगा।

इस सिद्धान्त के अनन्तर द्वैताऽद्वैतवादी कहते हैं कि विशिष्टाऽद्वैत भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में विशेषण विशेष्य का वस्तुतः भेदही मानते हो तव अद्वैत कैसे हो सकता है ? विशिष्टाऽद्वैत केवल प्रयोग चातुर्य्य है। अतः इस पक्ष में भी अद्वैतवादिनी श्रुति निरालम्बन ही रह जाती हैं। इस वास्ते चिदचिद्भिन्नाऽभिन्न परमतत्त्व जगत का उपादान तथा निमित्त कारण है। और वही श्रुति सूत्र के तात्पर्य्य का विषय है। जैसे "सुवर्णं कुण्डलं" ऐसे प्रयोग तथा विचार से भी सुवर्ण स्वरूप ही कुण्डल है।

इस वास्ते सुवर्ण कुण्डल का अभेद, एवं सुवर्ण जानने पर भी "किमिदम्" ऐसी कुण्डलविषयिणी जिज्ञासा होती है, इस वास्ते दोनों का भेद भी है।

पयोव्रती दधि नहीं भक्षण करता, दधिव्रती पय से बचता है ; गोरसव्रती दोनों ही का भक्षण करता है। इस वास्ते व्यवहार-पार्थक्य से भेद होता है। तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन अर्थात्-सुवर्णादि कारण के आधीन ही कार्य को स्थिति एवं प्रवृत्ति होती है। अतः अभेद भी है। ठीक ऐसे ही चित् भोक्तृवर्ग, अचित् भोग्य वर्ग परमतत्त्व के आधीन ही स्थिति प्रवृत्तिवाले हैं। अतः परमतत्त्व से अभिन्न हैं; व्यावहार में विरुद्ध धर्म देखने में आता है अतः भिन्न भो हैं। इस वास्ते चिद्भिन्नाऽभिन्न परमतत्त्व ही में शास्त्र का अभिप्राय है।

शुद्धाद्वैतवादी इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं होते ! उनका कहना है कि परमतत्त्व से पृथक् चित् अचित् किसी तरह से हैं, तभी आप तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन, इस उपाधि से अभेद मानते हैं। वस्तुतः विशिष्टाऽद्वैतवादियों के समान आपके यहां भी अद्वैत-वादिनी श्रुति सम्यक् स्वार्थपर्यवसायिनो नहीं होतीं। परमात्मा से व्यतिरिक्त तत्त्व मानने से तत्त्व में परिच्छेद होने से "निरतिशय पूर्णता" भी बाधित होगी। इस वास्ते विशिष्टत्व-भिन्नत्वादि-शून्य शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा ही श्रुति सर्वस्व है। इस पक्ष में भेद-वादिनी तथा अभेदवादिनी दोनों प्रकार की श्रुतियां अबाधित रहेंगी। भेदाऽभेद का परस्पर विरोध होने से एकत्र सामञ्जस्य होना भी असंभव है।

इस पक्ष में "एकोहं बहु स्याम्" इत्यादि श्रुतिशतसिद्ध एकतत्त्व ही का बहुभवन अघटित-घटना-पटीयान् आत्मयोग की महिमा से सम्यक् सूपपन्न हो जायगा। परमेश्वर समस्त विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। अतः अणोरणीयस्त्व, महतो महीयस्त्व, सर्वधारकत्व, सर्वसंसर्गराहित्य, स्वाभिन्न सुख-दुःख-मोहात्मक-प्रपञ्च-निर्मातृत्व, अविकृतपरिणामित्व भी होने में कोई आपत्ति नहीं।

विचित्रस्वरूपाभिन्न आत्मवैभव ही सर्वसमाधान में पर्याप्त है; सदंशाश्रित मायाशक्ति, चिदंशाश्रित संविच्छक्ति, आनन्दाश्रित आह्लादिनीशक्ति के संवन्ध से सदादि अंशों का ही प्रकृति प्राकृत तथा पत्त्रयाऽनुमोदित अणुपरिमाणचित् कणस्वरूप भोक्तृवर्ग एवं ज्ञान आनन्द के प्राधान्याऽप्राधान्य से अन्तर्यामी श्रीकृष्ण आदि रूप में अविकृत परिणाम निर्दुष्ट होने से सर्वव्यवहार भी समञ्जस है। इस पक्ष में कारणांश को लेकर अद्वैतवादिनी, सप्रपञ्च को लेकर द्वैतवादिनी श्रुतियाँ भी ठीक लग जायँगी।

इसके वाद अद्वैतवादियों का कहना है कि आपका भी कहना ठीक है, परन्तु पूर्वोक्त सिद्धान्तियों का भी कहना निर्मूल नहीं! "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः", "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" इत्यादि श्रुतियों से यद्यपि वेदों का परम तात्पर्य "एकमेवाऽद्वितीयम्" इत्यादि श्रुति-

सहस्रसिद्ध सजातीय-बिजातीय-स्वगतभेद-शून्य, पूर्ण प्रज्ञानानन्द-घन परमात्मा में ही है।

तथापि अवान्तर तात्पर्य्य पारमार्थिक सत्ता से कुछ न्यून सत्ता-वाले अर्थात् अपरिच्छिन्न पूर्ण परमतत्त्व की परमार्थ सत्यता से न्यून सत्तावाले "अघटित-घटना-पटीयसी" अचिन्त्यानिर्वाच्य भगवदीय शक्ति एवं तदीय विकाश विविधवैचित्र्योपेत; विश्वजनीनाऽनुभव-निवेदित विश्वव्यवहारोपयुक्त सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्ध पदार्थों में भी है। आपका अघटितघटनापटीयान् आत्मवैभव हम भी मानते हैं। पर उसे अनिर्वाच्य स्वभाव और मानना चाहिये ? क्योंकि यदि उसे परमात्मतत्त्व से व्यतिरिक्त परमार्थ सत्य मानें तो अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियाँ विरुद्ध होती हैं।

असत् खपुष्पादिवत् मानें तो प्रपञ्चनिर्माणपटीयस्त्व नहीं बनता ! परमार्थसत् परन्तु परमतत्त्व से अत्यन्त अभिन्न मानें तो तद्वत् ही अविकारी कूटस्थ होने से सुख-दुःख मोहात्मक प्रपञ्च की हेतुता नहीं बनती।

भेदाऽभेद सत्त्वासत्त्व विकृतत्त्वाविकृतत्त्व समान सत्ता से एक जगह हो नहीं सकते। अन्यथा विरोधमात्र ही दत्ताञ्जलि हो जायगा ? यदि कहीं श्रुतिप्रामाण्यात् ऐसा मानें सो भी नहीं ; क्योंकि शास्त्र अज्ञात-ज्ञापक होते हैं; न कि अकृतकर्तृ। अर्थात् जो

वस्तु जैसी है, शास्त्र उसके स्वरूप को बतलाते हैं। वस्तु-स्वभाव को अन्यथा नहीं करते। इस वास्ते जैसे-पट अन्वय-व्यतिरेकादि-युक्ति तथा वाचारम्भणादि श्रुतियों के विचार से तन्तुव्यतिरिक्त नहीं होता, किन्तु—आतानवितानात्मक तन्तु ही पट है। तथापि अङ्गावरणादि शीतापनयनादि कार्य्य तन्तुओं से नहीं होता। किन्तु पट ही से होता है। अतः विलक्षण अर्थ-क्रिया-निर्वाहक होने से सर्वथा अभिन्न भी नहीं कह सकते। इस वास्ते ठीक वैसे "अघटित-घटना-पटीयान्" आत्मयोग भी परमतत्त्वापेक्षया न्यून-सत्ताक अनिर्वाच्य मानना चाहिये? ऐसा मानने में विषम सत्ता होने से द्वैताऽद्वैत का विरोध भी नहीं होगा।

क्योंकि समान सत्तावाले भावाभावों का ही परस्पर विरोध होता है; न कि विषम सत्तावालों का भी। व्यावहारिक सत्ता के रूप्या-भाववान् शुक्तितत्त्व में प्रातिभासिक सत्ता से रूप्यभाव होने में कोई आपत्ति नहीं। तद्वत् परमार्थ सत्ता से अद्वैत तदपेक्षया न्यून अर्थात् व्यावहारिक सत्ता से द्वैत होने में कोई विरोध नहीं। इस पक्ष में व्यावहारिक अर्थात् व्यवहारकाल में आकाशादिवत् अबाध्यक्रियादिनिर्वाहक सत्यतासम्पन्न द्वैत को लेकर समस्त लौकिक वैदिक व्यवहार तथा अद्वैतवादिनी श्रुतियों का अवान्तर तात्पर्य के विषयभूत द्वैत में सामञ्जस्य भी पूर्वोक्त सिद्धा-न्तियों के अनुसार सम्पन्न होगा। तथा त्रिकालाबाध्य व्यव-

ह्यारातीत परमार्थ सत्य स्वप्रकाशात्मक परमतत्त्व के अभिप्राय से अद्वैतवादिनी श्रुति ही नहीं, अपितु समस्त श्रुतियाँ भी अपने महातात्पर्य्य के विषयभूत अनन्तानन्दात्मक तत्त्व में पर्य्यवसित हो जायँगी।

एवं स्वभाविक भेदाभेद, सोपाधिक भेदाऽभेद, चिदचिद्-विभक्ताद्वैत आदि अनेक सिद्धान्त हैं। परन्तु प्रायः उक्त मतों से मिलते जुलते या गतार्थ हो जाते हैं। इनमें वैसे तो प्रायः परस्पर सभी अन्योन्य का खण्डन तथा स्वमतमण्डन करते हैं। परन्तु कुछ तो सिद्धान्तमात्र में विवाद करते हुए भी स्वाभिमत तत्त्व-प्राप्त्यर्थं ही प्रयत्न करते हैं; इस वास्ते उनके यहाँ अधिक संघर्ष नहीं प्रवेश करने पाता। परन्तु कुछ लोगों की तो सिद्धान्त या स्वाभिमत तत्त्वप्राप्त्यर्थं प्रयत्न करने से तत्परता छूटकर परमत-खण्डन या परकीय इष्टदेव तथा आचार्य्यों के दोष प्रकट करने में ही प्रवृत्ति होती है।

जैसे "शैव" या "वैष्णव" लोगों की कट्टरता प्रसिद्ध है; सुना जाता है कि शिवकाञ्ची विष्णुकाञ्ची आदि परमपुण्य स्थलों में प्रथम ऐसी दशा थी कि एक दूसरों के देवता के उत्सव या रथयात्रा आदिकाल में "अभद्र" अर्थात् शोक के चिह्न एवं अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया करते थे। विष्णुभक्त शिवकी निन्दा और शिवभक्त विष्णुकी निन्दा करते थे। भस्म, रुद्राक्ष, ऊर्ध्व-

पुण्ड्र, तप्तमुद्रा, कण्ठी, आदि विषयों पर ही अतिगर्हणीय कलह करते थे।

आज जब कि "संघे शक्तिः कलौ युगे" के अनुसार भारतीय नेता लोग हिन्दुओं का ही नहीं वरं मुसलमान या इसाई आदि सभी के साथ परस्पर वैर-भाव रहित अपने अपने सामान्य व विशेष धर्मों का पालन करते हुए प्रेमपूर्वक संगठन का प्रयत्न कर रहे हैं।

वर्णाश्रमस्वराज्यसंघ के स्थापन में पूर्ण प्रयत्न करने वाले स्वर्गीय "महामहोपाध्याय पण्डित लक्ष्मण शास्त्री" जी की योजना से एक समिति में बैठे हुए सभी सम्प्रदायाचार्यों के अपूर्व दर्शन का सौभाग्य जनता को प्राप्त होने लगा है।

ऐसे समय कलह का नवीन सूत्रपात जारी होरहा है। अभिज्ञ पुरुषों से तिरोहित नहीं कि अद्वैतसिद्धान्तानुयायी केवल शैव ही नहीं, अपितु वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य सभी होते हैं। न वे त्रिपुण्ड्र, ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि के हो विरोधी होते हैं। क्योंकि उनमें सभी देवों का सम्यक् आदर है। ऐसी दशा में देश की इसी दुरवस्था की अभिवृद्धि के इस अकाण्डताण्डव मूल को देखकर किस सहृदय के हृदय पर मर्मस्पर्शी आघात न होगा। परमपुण्य भगवान् भूत-भावन की वाराणसी पुरी में कई साल हुए "श्रीमान् माध्वसम्प्रदायाचार्य" पधारे थे।

काशीस्थ विद्वान् उनको एक सम्प्रदाय का आचार्य्य समझकर उनके साथ शिष्टतानुसार व्यवहार करते थे; परन्तु उक्त सम्प्रदायाचार्यजी की उत्सुकता "श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद" को विज्ञानवादी, या शून्यवादी, बौद्ध, अवैदिक अद्वैत सिद्धान्त के प्रचारक, तथा भस्म रुद्राक्ष धारण करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणों का नरक जाना इत्यादि विषयों के सिद्ध करने में थी।

आचार्य्य महोदय की ऐसी विलक्षण उत्सुकता को देखते हुए भी अधिक विद्वान् मण्डल सुसम्पन्न संगठन में विघ्न समझकर मौन रहे। दो एक विद्वानों ने कुछ प्रतिवाद भी किया, परन्तु वह कार्यक्रम उनके चले जाने पर भी उनके सिद्धान्ताऽनुयायी कुछ विद्वानों द्वारा काशी में प्रचलित है।

प्रतिमास एक "अद्वैतविमर्शमाला पुष्प" मूल्य रहित ही वितरणार्थ प्रकाशित होता है। लेखक ने तृतीय और षष्ठ पुष्प देखा। उसका विषय प्रदर्शित कर पाठकों का अमूल्य समय नहीं लेना चाहता। संक्षिप्त विषय यही है कि शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध थे. तामसों को मोहन करने के लिये आये थे। दण्डेन वञ्चसि "वञ्चते परिवञ्चते" प्र०वे० "वेदान्तिका अधो यास्यन्ति" अद्वैती लोग वेद, शास्त्र, ईश्वर, देव, ब्राह्मणादिवर्ण, ब्रह्मचर्य्यादि आश्रम स्वर्ग, नरक सब झूठा है ऐसा कहते हैं। इस वास्ते नास्तिक हैं।

कुछ लोग यदि कुछ करते हैं, सो भी केवल वञ्चना मात्र है। त्रिपुण्ड् व भस्म धारण से पतन होता है।

"त्रिपुण्ड्धारणाद्विप्रः, पतत्येव न संशयः।
त्रिपुण्ड्धारणं कृत्वा, तमस्यन्धे निमज्जति॥"

इत्यादि तृतीय व षष्ठ पुष्प में अद्वैत सिद्धान्त को अवैदिक सिद्ध करने की बड़ी चेष्टा की गई है। विशेष जिज्ञासुओं को उसी ग्रन्थ से देखना चाहिये। यद्यपि ये भी सभी लीलायें उस लीलामय नटनागर के लिये बेतुक नहीं है; तथापि अनभिज्ञ लीलापात्र तथा दर्शकवृन्द के लिये शोक मोह का स्थान न हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

पाठक प्रज्ञा का तत्त्व पक्षपात होना स्वभाव है। जरा ध्यान देकर विचारिये कि क्या? उक्त समस्त सिद्धान्त सोपानारोहक्रम से किसी सिद्धान्तभूत परमार्थ सत्य परमतत्त्व में पर्य्यवसित होते हैं; अथवा परस्पर विरुद्ध होने से सुन्दोपसुन्दन्याय से निर्म्मूल हो जाते हैं! द्वितीय पक्ष तो ठीक नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि भला थोड़ी देर के लिये वाह्यों को छोड़ भी दें, तो भी तत्तद्वादाभिमानियों से अभिमत तत्तद्देवताओं के अवतार भूत तत्तदाचार्य्य मात्सर्यादिशून्य दोष न्ये "प्रमाणं परमं श्रुतिः" का उद्घोष करते हुए

निरर्थक सिद्धान्तों का स्थापन क्यों करेंगे। "सर्वभूतानुकम्पया" प्रवृत्त होकर अतात्विक निष्प्रयोजन सिद्धान्त स्थापन क्यों करेंगे।

इस वास्ते प्रथम पक्ष ही में कुछ सार प्रतीत होता है। अब प्रश्न यह होता है कि फिर उक्त सिद्धान्तों में कौनसा सिद्धान्त ऐसा है कि जिसमें साक्षात् या परम्परया सभी सिद्धान्तों का सामञ्जस्य हो। क्योंकि द्वैत अद्वैत अत्यन्त विरोधी सिद्धान्तों का परस्पर सामञ्जस्य होना मानो तेज तिमिर या दहन तुहिन का ऐक्य सम्पादन है। इस विषय में समन्वय-साम्राज्य-पथानुसारी शास्त्र-तात्पर्य-परिशीलन संस्कृतप्रेक्षावानों का कहना है कि "वेदैक-समधिगम्य" तत्त्व में आस्था रखने वाले सिद्धान्तों का सामञ्जस्य तो सिद्ध ही है।

विशेष विचार से तो अदृष्ट कुछ न मानकर एक मात्र दृष्ट पदार्थ को माननेवाले बाह्य चार्वाक का भी दृष्ट को परमार्थसत्तया कुछ न मानकर केवल अदृश्य, अव्यक्त, अव्यवहार्य्य परमार्थतत्त्व कोही माननेवाले अद्वैतियों से परम्परया अविरोध हो सकता है।

इस वास्ते यद्यपि द्वैत में अद्वैत का अन्तर्भाव नहीं होसकता; तथापि अद्वैत में द्वैत का अन्तर्भाव हो सकता है। लोक में देखते ही हैं कि एक वटबीज से अनन्त वट वृक्ष, एक मृत्तिका से अनन्त घट शरावादि पात्र होते हैं। श्रुति भी–

—"एकोऽहं बहु स्याम्, तदात्मानमेवाऽकुरुत"

इत्यादि वाक्यों से एक का ही बहु भवन बतला रही है। तस्मात् जैसे महासमुद्र में वायु के योग से तरङ्ग फेन बुद्बुद अनेक विकार स्वरूप से समुद्र का ही प्रादुर्भाव होता है। उसी तरह अनिर्वाच्य भगवदीय शक्ति के तादृश ही योग्य से अनिर्वाच्य प्रपञ्च रूप से निरवयव निष्क्रिय प्रज्ञानानन्दघन का अनिर्वाच्य प्रादुर्भाव होना श्रुतिसिद्ध है। भगवच्छक्ति की अनिर्वचनीयता तथा तत्कृत द्वैत का परमार्थ सत्य अद्वयानन्दब्रह्म के साथ अविरोध पहिले कुछ कहा जा चुका। कुछ कहेंगे भी। अस्तु-जैसे प्रदीपशिखा या प्रकाश स्वसन्निहित स्वच्छातिस्वच्छ तारतम्योपेत बहुसंख्यक कांच के योग से तत्तदाकाराकारित हो जाती है। क्योंकि प्रकाश्य को प्रकाशता हुआ प्रकाश प्रकाश्याकार हो ही जाता है। ठीक उसी तरह आनन्दमय से लेकर अन्नमय ही पर्य्यन्त नहीं, अपितु तत्तद् इन्द्रियों द्वारा संसृष्ट शब्दाद्यात्मक पुत्र कलत्रादि पर्य्यन्त के सन्निधान से तत्तदाकाराकारित विशुद्ध आत्मतत्त्व ही हो जाता है।

उपाधि के सम्बन्ध से उपहित की उपाधिस्वरूपवत्ता स्फटिकादि में प्रसिद्ध है। अतएव तत्तदुपाधियों के सम्बन्ध से उनके साथ अभेदभावापन्न आत्मा का आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय तथा पुत्र रूप से निर्द्देश श्रुतियों में पाया जाता है।

इसी वास्ते सकलविभ्रमास्पद परमतत्त्व में नानाप्रकार वादि विप्रतिपत्ति स्वस्वमति वैभवानुसार तत्त्वग्रहण यह सभी समञ्जस है। उन्हीं लोक बुद्धि सिद्ध स्वरूपों का सोपानारोह क्रम से परमात्म-तत्त्व प्रतिपत्ति के लिये माता पितृशतादपि हितैषिणी भगवती श्रुति उत्तरोत्तर अनुवाद करती हैं। पुत्रादि से आत्मभाव की व्यावृत्ति के लिये अन्नमय देह में आत्मभाव रखनेवाले चार्वाकका भी मत अभिमत होने से अद्वैत में उपयुक्त है।

एवं देह से आत्मभाव व्यावृत्यर्थ प्राणमय में भी आत्मभाव अपेक्षित है। प्राणमय से आत्मबुद्धि हटाने के लिये मनोमय में आत्मभाव भी ठीक ही है। एवं अभासान्वित क्षणिक बुद्धि वृत्ति सन्तति में तथा सन्तति क्षय रूप में शून्याभिमान रखने वाले विज्ञानवादी शून्यवादी बौद्धों का भी मत परमतत्त्व प्रतिपत्ति में क्रमशः पूर्वप्रतिपन्न आत्मभाव व्यावृत्ति के लिये उपयुक्त हो सकता है। संघात व्यतिरिक्त शरीर परिमाण आत्मा मानने वाला "आर्हत" सिद्धान्त भी संघाताभिमान व्यावृत्ति के लिए उपादेय ही है।

नैय्यायिक, वैशेषिक भी व्यवहारोपयुक्त पदार्थ अनुमानादि प्रमाण संघातातिरक्त विभु आत्मा सिद्धकर परमतत्त्व प्रतिपत्ति के परम उपकारक हैं। सांख्य प्रकृति पुरुष का क्षीर नीर से भी घनिष्ट सम्मिश्रण मिटाकर असङ्ग, चेतन, विभु आत्मा सिद्ध करते हैं,

योगी तद्व्यतिरिक्त, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमेश्वर सिद्ध कर परम पुरुषार्थभूत भगवदाराधन के साधक हो जाते हैं।

मीमांसकों ने भी भगवदाराधन का परम हेतु वर्णाश्रमानुसार वैदिक कर्मों का स्वरूप निर्णय कर अत्यन्त उपकार किया। जिससे कि भगवान् "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इत्यादि वचनों से परमतत्त्व प्रतिपत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध करते हैं।

यहां से अब उत्तर मीमांसकों की आवश्यकता देखनी चाहिये, परन्तु इसके पहिले यह बात समझ लेना चाहिये कि उक्त अथवा वक्ष्यमाण दार्शनिकों का विषय विशेष में प्राधान्य' तदितर में गौण अभिप्राय है।

अन्यथा सर्वांश में प्राधान्य होने से विरोध अनिवार्य्य होगा, इस वास्ते तत् तत्, दार्शनिकों के प्राधान्य अंश उपयुक्त होने से ग्राह्य एवं अविरुद्ध हैं। जैसा कि विद्वानों में न्याय, वैशेषिक सर्वांश को प्रतिपादन करते हुए भी प्रमाण शास्त्र ही कहलाते हैं।

पूर्वोत्तर मीमांसा वाक्यशास्त्र कही जाती है। व्याकरण पदशास्त्र कहा जाता है। इन उक्तियों का अभिप्राय यही है कि उक्त शास्त्रों का प्रधान विषय प्रमाणादि ही है, अन्य गौण। अतः गौण अंश में विरोध होते हुए भी प्रधानांश सर्वमान्य हैं।

अभिप्राय यह है कि जो दार्शनिक जितने अंश में पूर्ण तत्त्व प्राप्ति के उपयोगी जो बात कहते हैं, वह ग्राह्य है। तदितर अग्राह्य है। जो लोग जितने अंश में पुरुषार्थ मानने हैं, उसी के हेतु का निर्णय करते हैं। निद्रालस्यादि तामस भावों की अपेक्षा राजस विषयोपभोगादि, श्रेष्ठ पुरुषार्थ तथा अन्वय व्यतिरेक्त सिद्ध तत्साधन माननेवाले चार्वाक भी अंशतः अभिज्ञ ही हैं। एवं जो दृष्टाऽदृष्ट भेद से जितने पुरुषार्थ जिन जिन प्रमाणों से मानते हैं; उन्हीं उन्हीं प्रमाणों से उनके साधनों का भी निश्चय करते हैं। महर्षि लोग भी जिस विषय के अन्वेषण में समाधि द्वारा असाधारण प्रयत्न किये हैं। उस विषय में उनकी असाधारण मान्यता होती है। जैसे महर्षि पाणिनी की शाब्दिकी व्यवस्था में; जिन विषयों में प्राधान्य नहीं उन विषयों में विरोध अनिवार्य्य है। अस्तु उत्तर मीमांसा के द्वैत सिद्धान्तपरक भाष्यकार "भक्त्या मा मभिजानाति, यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।"

इत्यादि भगवद् वाक्यानुसार परमतत्त्व साक्षात्कार का असाधारण कारण भगवद्भक्ति एवं तदुपयुक्त-अनन्त कल्याण-गुण गणाश्रय उपास्य स्वरूप तद्भिन्न उपासक स्वरूप-निर्णय करते हैं।

विशिष्टाऽद्वैतियों ने परमेश्वर के साथ जीव का कुछ असाधारण संवन्धपूर्वक भक्ति के आधिक्य एवं अद्वैतवादिनी श्रुतियों का

निरादर हटाने का प्रयत्न किया, द्वैताऽद्वैतवादियों ने "अन्योऽसा वह मन्योस्मि, न स वेद" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उपासना में उपास्योपासक के अभेद ज्ञान की आवश्यकता समझते हुए भेदाभेद का बराबर आदर सिद्ध किया।

शुद्धाऽद्वैतियों ने भगवत् तत्त्व से व्यतिरिक्त तत्त्व मानने में वस्तु की पूर्णता में बाधा समझ कर शुद्धाऽद्वैत तत्त्व का स्थापन किया।

यद्यपि शुद्धाऽद्वैत सिद्धान्त में उक्त भगवदीय आत्मवैभव से ही एक का बहुभवन सिद्ध होने से लौकिक वैदिक समस्त व्यवस्था सूपपन्न है। तथापि "अजायमानो बहुधा व्यजायत" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते" इत्यादि श्रुतियों से अजायमान का जायमानत्त्व एक का बहुत्व माया से ही सिद्ध है। क्योंकि परमार्थतः एकही वस्तु का अजत्त्व, जायमानत्त्व, एकत्त्व बहुत्त्व, असम्भव है। इस वास्ते वस्तुतः सबाह्याभ्यन्तर अज सजातीय विजातीय स्वगतभेद शून्य स्वप्रकाशप्रज्ञानानन्द घन में ही अचिन्त्याऽनिर्वाच्य स्वात्म शक्ति के अनिर्वाच्य संबन्ध से ही जायमानत्त्व, बहुत्व स्वीकार करना चाहिये।

इसी वास्ते अद्वैतवादी अनिर्वचनीयवादी भी कहलाते हैं। अब यहाँ प्रेक्षावानों को विचार करना चाहिये कि जब क्रमशः

उक्त प्रकार से सभी सिद्धान्त अद्वैत की ओर (ही) अग्रसर हो रहे हैं और विचार दृष्टि से सभी का प्रधान २ अंशों में अविरोध सिद्ध होता है। तब कलह का नया सूत्रपात क्या अकाण्डताण्डव नहीं है?

द्वैतसिद्धान्ताऽनुयायियों का परम तात्पर्य्य श्रीमद्भगवच्चरणाम्बुज के अनुराग में ही है। यह बात अद्वैतवादियों को भी सम्मत है।

यह बात दूसरी है कि कोई भगवान् के भूतभावन श्रीसदाशिव रूप में, कोई श्रीविष्णु रूप में, कोई पतितपावन श्रीमद्रामभद्र रूप में, कोई श्रीकृष्ण आनन्दकन्द रूप में तथा अन्यान्य रूप में प्रेम रखते हैं। विद्वानों का कहना है कि जैसे एकही गगनस्थ सूर्य्य तत्त्व घट सरोवरादि अनेक उपाधियों में प्रतिबिम्बित होकर बिम्ब प्रतिबिम्ब भावापन्न होता है, ठीक उसी तरह अनिर्वाच्य मायामय गुणों के परस्पर विमर्द वैचित्र्य निबन्धन विविध उपाधियों के योग से "माया आभासेन जीवेशौ करोति" इत्यादि श्रुतिके अनुसार अनन्तकोटि ब्रह्माण्डतद्गतजीवेशादि रूप से एकही परमतत्व प्रादुर्भूत होता है। जैसे परम विशुद्ध गगनस्थसूर्य्य ही प्रतिबिम्बापेक्षया बिम्ब पदवाच्य होते हुए सर्वथा अविकृत है। वैसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड तद्गत जीव एवं अवान्तर तत्तन्नियन्ता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि नियम्य की अपेक्षा परम विशुद्ध तत्त्व ही

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के नायक होते हुए भी सर्वथा अविकृत है।

और वही रजस्तमोलेशादि से अननुविद्ध, अचिन्त्याऽनिर्वाच्य अन्तरङ्गा आह्लादिनी शक्ति के योग से विभिन्न २ भक्तों के भावानुसार भिन्न भिन्न मंगलमय विग्रहरूप में शिवपुराण, स्कन्दपुराण में शिवरूप से विष्णुपुराण में विष्णुरूप से श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण रूप से श्रीरामायण में श्रीरामभद्र रूप से—

"वेदे रामायणे चैव, पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च, हरिः सर्वत्र गीयते॥"

के अनुसार गाये जाते हैं। अन्यथा जैसे विष्णुपुराणादि में विष्णु का परत्व, सदाशिवादिका अपरत्व पाया जाता है। वैसेही स्कन्दपुराणादि में तथा महाभारत में भी भीष्म के सामने युधिष्ठिर के लिये श्रीकृष्ण मुख से ही सदाशिव का परत्व, और तदतिरिक्त का अपरत्व पाया जाता है।

शिवपरक पुराणों को तामस राजस बतलाकर उनसे पीछा छुड़ाना भी सहृदय हृदयग्राह्य नहीं हो सकता! क्योंकि शिवपरक पुराणों में भी केवल शिवमाहात्म्य प्रतिपादक पुराण ही कल्याणकारक हैं, तदतिरिक्त नहीं। अश्रुतशिवमाहात्म्य पुरुष नरकगामी होता है; ऐसे एक दो नहीं सहस्रों वचन दिखलाये जा सकते हैं।

विरुद्ध क्रिया संकल्पासिद्धि आदि अनेक दोषों के भय से सर्वसम्मति से ईश्वर एक ही है, दो नहीं ! पुराणों के निर्माता महर्षि "व्यास" सर्वलोक कल्याणार्थ प्रवृत्त होकर परस्पर विरुद्ध बातें कह भी कैसे सकते हैं ?

वेदों में जैसे "नारायणो ह वा इद मग्र आसीत्" से नारायण का ही अस्तित्त्व पाया जाता है। तैसे ही "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" इत्यादि वचनों से रुद्र का ही अस्तित्त्व भी पाया जाता है।

ठीक यही समस्त दूषणगण, त्रिपुण्ड्र ऊर्ध्वपुण्ड्र, भस्म, गोपीचन्दन, रुद्राक्षादि विषयों में भी समझना चाहिये। अर्थात्--कहीं केवल भस्म, त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य, तदितर की निन्दा, कहीं ऊर्ध्व-पुण्ड्र की स्तुति, तदितर की निन्दा। यदि ऊर्ध्वपुण्ड्र की विधि उपनिषदों में पायी जाती है तो भस्म तथा रुद्राक्षका माहात्म्य जावालोपनिषदादि में पाया जाता है। यदि काठरायण, मांठराय-णादि अत्यन्त अप्रसिद्ध श्रुतियों का भी प्रामाण्य साम्प्रदायिक मानते हैं, तो मुक्तिकोपनिषत् प्रमाण तथा लोक प्रसिद्धि सिद्ध रुद्राक्ष, भस्म, जावालादि उपनिषदों के प्रामाण्य में बाधा ही क्या हो सकती है। अस्तु—यह साम्प्रदायिक कलह, कलह प्रियों को ही शोभा देता है। दुराग्रही लोग लाख प्रयत्न से भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ सकते !

अतः इस विवाद में हम पाठकों के समय का अपव्यय नहीं चाहते। परन्तु उक्त विषयों में समन्वय पद्धति के मर्म्मज्ञों की उक्त तथा वक्ष्यमाण व्यवस्था ध्यान से पढ़नी चाहिये। उनका कहना यह है कि पूर्वोक्त बिम्बादिदृष्टान्तानुसार एक ही परमतत्व का भावानुसार नाम रूप वेष भूषा भेद से उपासना तथा तत्तदनु रूप नियत उपकरण भिन्न भिन्न उपनिषद् तथा पुराणों में बतलाये गये हैं।

और नियत रूपादि में निष्ठा परिपाक के लिये नियत रूप का ही माहात्म्य तदितर की निन्दा प्रतिपादन करी गई है। जैसे वेदों में क्रम से उदित, अनुदित, समयाध्युषित होम का विधान भी पाया जाता है। और वहाँ ही उक्त होमों की निन्दा भी पायी जाती है। परन्तु उक्त निन्दाओं का तात्पर्य्य निन्दा में न होकर किसी एक की दृढ़ता सम्पादन करने में ही है।

अर्थात्—जिसने जिस पक्ष को स्वीकार किया उसने उसी में दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिये। दूसरे पक्ष का अवलम्बन नहीं करना चाहिये। क्योंकि वैदिकों की ऐसी मर्यादा है कि निन्दा का तात्पर्य्य निन्दा में न होकर किसी विधेय की स्तुति में होता है। जैसे वेदों में एक जगह अविद्या पदवाच्य कर्मों के करने वालों को अन्धंतम की प्राप्ति कही है। विद्यापद वाच्य उपासना में निरतों को

उससे भी घोर अदर्शनात्मक तम की प्राप्ति कही "अन्धं तमः प्रविशन्ति" है।

परन्तु उक्त विद्या तथा अविद्या का शास्त्र में विधान पाया जाता है। शास्त्र विहितकृत्य की अकर्तव्यता "नहि शास्त्र विहितं किञ्चिदकर्तव्यताभियात्" इत्यादि भगवान् शंकराचार्य्य की उक्ति अनुसार हो नहीं सकती। यदि उनकी निन्दा में ही तात्पर्य्य होता तो "विद्यया देवलोक" इत्यादि श्रुति सिद्ध फल अनुपपन्न होगा। क्योंकि कहीं पर भी निषिद्ध कृत्य की शुभफलकता श्रुति सिद्ध नहीं है। इस वास्ते वैदिकों ने समुच्चय विधान की स्तुति के ही लिये एक एक की निन्दा मानी है। ठीक इसी तरह उक्त निन्दाओं का भी तात्पर्य्य निन्दा में न होकर स्वोपास्य देव में दृढ़ता के लिये स्तुति में ही है।

किं वा जैसे कोई कौतुकी अपनी मुग्धा भार्या को चिढ़ाने के लिये अपने कुत्ते को श्याल के नाम से पुकार कर गाली देता है। न कि श्याल को गाली देता है। मुग्धा अपने भ्राता को गाली समझकर चिढ़ती है।

एवं शिवपुराणादि प्रतिपाद्य अनन्त कोटिब्रह्माण्डाधीश्वर शिवतत्त्व में ही दृढ़ निष्ठा के लिये शिवस्वरूपाभिन्न विष्णु पुराणादि

प्रतिपाद्य सर्वेश्वर श्री विष्णु के नाम से ही ब्रह्माण्डान्तर्गत कार्य्य विष्णु की निन्दा की गई है।

तथा विष्णु पुराणादि प्रतिपाद्य अनन्त कोटि ब्रह्माण्डाधीश्वर श्रीविष्णुतत्त्व के उपासकों की निष्ठा दार्ढ्यार्थ तदभिन्न ही श्रीशिव के नाम से कार्य्य ब्रह्मकोटि में प्रविष्ट रुद्र की निन्दा की जाती है। और कहीं कहीं तो शिव या विष्णु की उपासना से नरक होना तक पाया जाता है। ऐसे स्थलों में भी नरक का अर्थ नरक न होकर कार्य्यकारणातीत परमतत्त्व प्राप्ति की अपेक्षा से ब्रह्मलोकादि ही, नरक पद से कहे गये हैं।

क्योंकि वेदों में भी "असुर्य्या नाम ते लोका:" इत्यादि मन्त्र में परमात्म तत्त्व की अपेक्षा देवताओं को भी असुर बतलाया गया है।

असुरों का अर्थात् असु प्राणादि अनात्मा में रमण करने वालों के स्वभूत अदर्शनात्मक तम से आवृत वह लोक अर्थात् फल है, जहाँ "आत्महन" आत्मा के वास्तविक नित्य शुद्ध, बुद्ध, स्वरूपको न जानकर कर्तृत्त्व, भोक्तृत्त्व, आदि अनेक कलङ्क को आरोपण करनेवाले अनात्मज्ञ जाते हैं।

जैसे यहाँ देवलोकादि की निन्दा में तात्पर्य्य नहीं, किन्तु आत्मज्ञानार्थ प्रयत्नातिशय करने ही के लिये है। इसी तरह शास्त्रों

के गम्भीर अभिप्राय किसो की निन्दा में न होकर स्वोपास्य निष्ठा या (किसी) बड़े कल्याण विषयक प्रयत्न में प्रवृत्ति के लिये समझना चाहिये। अनभिज्ञ लोग मुग्धा भार्या की तरह दुःखी होकर परस्पर कलह करते हैं। बुद्धिमान तो अपने स्वप्रकाशात्मक पूर्ण परम प्रेमास्पद को ही सर्वस्वरूप सर्वोपास्य समझ कर मुदित होते हैं।

और रागद्वेषादि रहित भगवान् के किसी एक रूप में निष्ठा रखते हैं। जैसे किसो मर्मज्ञ भावुक की उक्ति प्रसिद्ध है—

"श्रीनाथे जानकीनाथे, विभेदो नास्ति कश्चन।
तथापि मम सर्वस्वं, रामः कमल लोचनः॥"

तथा—

महेश्वरे वा जगता महीश्वरे,
जनार्दनेवा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेद प्रतिपत्ति रस्ति मे,
तथापि भक्ति स्तरुणेन्दु शेखरे॥

इत्यादि जब कि एकही परमतत्व भगवान् भक्तानुग्रहार्थ अनेकधाप्रादुर्भूत होते हैं तब उन्हीं के एक स्वरूप या नामको समाश्रयण कर दूसरे स्वरूप या नाम का तिरस्कार या निन्दा करनी कितनी

बड़ी भूल है क्या अपने ही एक अंग का तिरस्कार करने वाले मूर्ख अनन्य भक्त पर भी कोई प्रसन्न हो सकता है। शिवप्रधान या विष्णु प्रधान पुराणों में भी शिव विष्णु के ही मुख से स्थलान्तरों में सम्यक् अभेद या परस्पर उपस्योपासक भाव तक भी सुना जाता है। सो विष्णुसहस्रनाम शाङ्कर भाष्य में देखना चाहिये। विस्तार भय से वहां के बचन न देकर वैष्णव कुल कमल दिवाकर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी की ही कुछ उक्ति दी जाती है। आपका कहना है कि—

शिव पद कमल जिनहिं रति नाहीं,
रामहिं ते स्वपनेहु न सुहाहीं।
हित निरुपधि सब विधि तुलसी के,
सेवक स्वामि सखा सिय पिय के॥

कुछ सांप्रदायिक महानुभाव श्री पार्वती रमण सदाशिवजी तथा श्री विष्णुजी के प्रमाणादि में अपने अनन्य वैष्णवत्व या शैवत्व की त्रुटि समझते हैं परन्तु विचार करने से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि शैव या वैष्णव केवल विष्णु या शिव को प्रणाम करना छोड़ देने से अनन्य वैष्णव या शैव भी नहीं हो सकते क्योंकि भला चाहें हम शिव को प्रणामादि करना छोड़ भी दें परन्तु हमसे कञ्चनकामिनी कैङ्कर्य्य कैसे छूट सकता है उसके

बिना छूटे तो हमें विधर्मियों के पीछे-पीछे स्वार्थ वश घूमना या, नत होना अपरिहार्य्य ही है तब हम अनन्यशैव या अनन्य वैष्णव कैसे हो सकते हैं। वस्तुतस्तु परमेश्वर के आराधन का परम उत्कृष्ट मार्ग स्वस्ववर्णाश्रम धर्म ही है जैसा कि शास्त्रों में कहा है–

स्वकर्मणातमभ्यर्च्यसिद्धिंविन्दन्तिमानवाः
वर्णाश्रमाचारवतापुरुषेणपरः पुनान ।
हरिराराध्यतेभक्त्यानान्यत्तत्तोषकारणम् ॥

वर्णाश्रमानुसार वैदिक अग्निहोत्रादि कृत्यों में अग्नि इन्द्र वरुण रुद्र विष्णु आदि सभी देवताओं का यजन करना पड़ता है अतः कोई भी वैदिकत्वाभिमानी कैसे कह सकते हैं कि हम अनन्य वैष्णव या शैव हैं, अन्य देवका अर्चन नहीं करेंगे। तस्मात् अनन्यता का अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि देवता ब्राह्मण गुरु माता पिता आदि गुरुजनों की अर्चा पूजा छोड़ देनी किन्तु अनन्यता का अर्थ यही है कि देवपितृ गुरु ब्राह्मणादि सभी का आराधन पूजन करो परन्तु वह सभी हो भगवदर्थ। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है–

सब कर माँगें एक फल,
राम चरण रति होहु ।

इत्यादि—

इसी प्रकार व्यवस्था भस्मादि के विषय में समझनी चाहिये। कारण कि रागतः प्राप्त पदार्थ की निन्दा, निषेध के लिये होती है। जैसे सुरामांसादि रागतः प्राप्त हैं।

अतः उनकी निन्दाओं का तात्पर्य्य उनके निषेधों में हो सकता है।

भस्म, त्रिपुण्ड्रादि राग से तो प्राप्त हैं नहीं; किन्तु किन्हीं शास्त्रवचनों से ही प्राप्त हैं। शास्त्र प्राप्त का अत्यन्तबाध शास्त्रान्तर से भी नहीं हो सकता! क्योंकि शास्त्रान्तर निरवकाश हो जायगा।

जैसे षोडशीग्रहण "अति रात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इस शास्त्र से ही प्राप्त है। अतः "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इस साक्षात् निषेध से भी अत्यन्तबाध नहीं होता! किन्तु विकल्प ही गृहणाऽगृहण का माना गया है।

ठीक इसी तरह शास्त्र प्राप्त भस्म त्रिपुण्ड्रादि का विकल्प या सम्प्रदाय भेद से व्यवस्थाही है। अर्थात् "शैव" तथा "वैष्णवों" के लिये सम्प्रदायानुसार व्यवस्था तथा श्रौत स्मार्त कर्म निरत कर्मठों को प्रातः सायं भस्म इतरकाल में यथाकाम, यही पद्धति देखने में भी आ रही है। लिखा भी है कि—

स्नात्वा पुण्ड्रं मृदा कुर्य्यात्,
हुत्वाचैवतु भस्मना ।
देवान् विप्रान् समभ्यर्च्य,
चन्दनेनसमाचरेत् ॥

आहिताग्निलोग किसी समय भस्मादि और किसी समय चन्दनादि लगाते हैं। इतरों के लिये यथा काम ही समझना चाहिये । निषेध का विषय श्मशानादिगत भस्म है न कि आवहनीयादि गत पवित्रभस्म, सामान्यवचनों का भी श्रुतियों से संकोच उचित ही है अभिप्राय यह है कि अद्वैतवादियों का इन मतभेदों में आग्रह नहीं है ।

उनमें यथा रुचि त्रिपुण्ड्र, ऊर्ध्वपुण्ड, शिव या विष्णु का सम्यक् आदर है। इस वास्ते इन विषयों में अद्वैतियों का किसी के साथ विरोध नहीं है। तीर्थ व्रत, मन्दिर, शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, शक्ति आदि प्रतिमार्चन, वर्णाश्रमानुसार श्रौतस्मार्त कृत्य आदि, विषयों का उनके यहाँ कितना आदर या प्रचार है। यह बात काश्यादि पुण्यस्थलों में ही नहीं प्रत्युत ग्रामीणों में भी उनके अनुयायियों के दर्शन से ही सुस्पष्ट पता लग सक्ता है।

भगवान् शङ्कराचार्यका सिद्धान्त है कि अनादिकाल से प्रवृत्त

ह संसार चक्र बिना परमतत्त्व, परब्रह्म के स्वरूप साक्षात्कार के कदापि नहीं शान्त हो सकता। भगवत्स्वरूपसाक्षात्कार के लिये वर्णाश्रमानुसार शिष्टाचार प्राप्त सभी लौकिक वैदिक कृत्य अनुष्ठान सहित भगवद्भक्ति ही, परमावश्यक है।

"वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयतां,
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्येमति स्त्यज्यताम्"

साधना पञ्चक से,

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां, क्षयात् पापस्य कर्म्मणः।
"कषाये कर्मभिः पक्वे, ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥"

"भक्त्या मामभिजानाति" इत्यादि वचनों के अनुसार अद्वैत तत्त्व अव्यवहार्य्य है, अतः व्यावहारिक सत्य नहीं कहा जा सकता द्वैत प्रपञ्च ही व्यवहार्य्य होने से व्यावहारिक सत्य कहा जा सकता है। द्वैत अद्वैत समान सत्ता से विरुद्ध होते हैं। अत पारमार्थिक व्यावहारिक सत्ता भेद से व्यवस्था उचित है।

इसी वास्ते स्वयं बद्रीनारायण आदि पुण्यस्थलों में शत शिव और विष्णु की प्रतिमा स्थापन करके भक्ति का सम्य प्रचार किया।

रहा भगवद्व्यतिरिक्त समस्त प्रपञ्च को मिथ्या बतला सो भगवान् तथा भगवद् भक्त दोनों को ही अभीष्ट है। भगव

ही स्वयं कहते हैं यही बुद्धिमानों की बुद्धिमत्ता है जो कि मरण-शाली मिथ्या शरीर से मुझ परम सत्य अमृत को प्राप्त कर लेते हैं।

'एषा बुद्धिमतां बुद्धि, र्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत् सत्य मनृतेनेह, मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥"
(श्रीमद्भागवत)

"तस्मादिदं जगदशेष मसत्स्वरूपं, स्वप्नाभम्"
(श्री० भा० ब्रह्मस्तुतिः)

"रज्जौ यथाऽहे र्भ्रमः"

'जेहि जाने जगजाइ हेराई। जागे यथा स्वप्न भ्रमजाई ॥'

समस्त शास्त्रों का परम तात्पर्य्य केवल भगवत् तत्त्व में ही है उसी परम तत्त्व प्राप्ति के लिये अवान्तर तात्पर्य्य विषयभूत अन्यान्य विषयों का निर्देश है।

इसी अभिप्राय से "सर्वे वेदा यत् पद मामनन्ति" इत्यादि उक्तियां हैं। मिथ्या भी संसार पूर्व कथनानुसार विना सम्यक् धर्मानुष्ठान किये नहीं निवृत्त हो सकता। प्राचीन तथा अर्वाचीन साम्प्रदायिक कलह शून्य वैष्णव-ज्ञानेश्वर तुकाराम, तुलसीदास आदि सभी महानुभावों ने वैराग्यादि के लिये संसार के मिथ्यात्त्व पर बड़ा जोर दिया।

देहादि को ही सत्य माननेवाले प्राकृत पुरुषों से देहादि

पोषणार्थ कितने अनिष्टों की संभावना है यह विज्ञों से तिरोहित नहीं है। श्री सूरदास हरिदास प्रभृति भावुक वृन्दों ने भी प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के चरित्र गान में ही अपना अमूल्य समय व्यतीत किया न कि निःसार जगत की सत्यता प्रतिपादन में !

मिथ्या कहने का भी अभिप्राय यही है कि "त्रिकालाऽबाध्य परमार्थ सत्यभगवान् की सत्यता के समान इसकी सत्यता नहीं है। किन्तु व्यवहार में आनेवाली केवल व्यावहारिक सत्यता है। न कि गगन कुसुम के समान अत्यन्त असत्। मिथ्या शब्द का यहाँ अपह्नव अर्थ नहीं है। अपितु अनिर्वचनीयता अर्थ समझना चाहिये। जैसे अविद्या शब्द का विद्या व्यतिरिक्त कर्म विवक्षित है। अधर्म से धर्म विरुद्ध पापादि विवक्षित है न कि विद्या का अभाव या धर्म का अभाव।

यद्यपि साधारणतया लोक में सत्यता एक ही प्रकार की प्रसिद्ध है। तथापि अध्यात्म शास्त्रवेत्ता सूक्ष्म स्तर भेद से सत्यता में महान् भेद समझते हैं। उनकी दृष्टि में विना (वस्तु) सत्ता के किसी वस्तु की अपरोक्ष प्रतीति असम्भव है। इसी वास्ते रज्जु सर्प आदिकों की भी प्रतीति तत्काल उत्पन्न अनिवार्य्य सर्प को विषय करनेवाली होती है। क्योंकि अत्यन्त असत

खपुष्पादि के समान रज्जु सर्प को अपरोक्ष प्रतीति तथा भय कंपादि की जनकता नहीं हो सकती इस वास्ते असत् खपुष्पादि से विलक्षण परन्तु रज्जु ज्ञान से वाध्य होता है। अतः व्यावहारिक घटादि से भी विलक्षण प्रातिभासिक सत्य कहलाता है। एवं आकाशादि जो कि व्यवहारकाल में कभी वाधित न होने से रज्जु सर्पादि से विलक्षण तथा ब्रह्म साक्षात्कार होनेसे एक मात्र ब्रह्म हो रह जाता है। तद्व्यतिरिक्त का वाध हो जाता है।

अतः त्रिकालाऽबाध्य परमार्थ सत्य से भी विलक्षण व्यावहारिक सत्य कहलाते हैं, और जो सदा एक रस परम तत्त्व है वही परमार्थ सत्य कहलाता है जैसे द्वैतवादियों के यहाँ घट की अनित्यता, आकाशकी नित्यता, रूप विलक्षणता सत्यता के बराबर होने पर भी समञ्जस है तैसे ही वाधित होने से मिथ्यात्त्व बराबर होते हुए भो व्यावहारिक समस्त प्रपञ्च की विनिवृत्ति के लिये व्यावहारिक साधनों की ही आवश्यकता है शास्त्रों में भी स्वाभाविक कामकर्म लक्षण मृत्यु के अपनयनार्थ ही अविद्या पदवाच्य कर्मों का विधान भी है। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा"

विशुद्धस्वान्ततत्त्वनिष्ठ के लिये "योगारूढस्य तस्यैव, शमः कारण मुच्यते" के अनुसार विधिपूर्वक सर्वकर्म सन्यास शास्त्रा-

नुसार ठीकही है। अब रहा यह कि जीव परमेश्वर के भेद न मानने से ठीक भगवदुपासना नहीं हो सकती। इस वास्ते अद्वैतियों के साथ विरोध है सो भी नहीं क्योंकि यावत् प्रारब्ध अविद्या लेश की अनुवृत्ति प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक से अद्वैतवादी भी मानते हैं। अतः जब तक उपाधि का अस्तित्व है तब तक जीव परमेश्वर का वास्तविक अभेद होते हुए भी व्यावहारिक भेद अनिवार्य्य है।

जैसे जब तक जल विद्यमान है, तब तक जैसे प्रतिबिम्ब भाव अवश्य है तैसे ही जीव भाव भी अनिवार्य्य है। जैसे वायु योग से समुद्र में तरङ्ग भाव होता है, तैसे ही अनिर्वाच्य भगवच्छक्ति के योग से जीव भाव भी अनिवार्य्य होवेगा। इसी दृष्टि से भेद भाव भगवद्भक्ति म पर्य्याप्त है।

इसी वास्ते श्रीमच्छङ्कर भगवत्पादों ने कहा है कि "सत्यपि-भेदापगमे, नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वं, सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचिदपि समुद्रो न तारङ्गः" हे नाथ ! जैसे तरङ्ग यद्यपि समुद्र से वस्तुतः भिन्न नहीं होता, किन्तु वायु योग से अवस्थान्तरापन्न समुद्र ही तरङ्ग कहलाता है, तथापि व्यवहार से समुद्र तरङ्ग का भेद सिद्ध ही है। उस व्यवहार सिद्ध भेद दशा में भी समुद्र का तरङ्ग है। ऐसा ही कहा जाता है, तरङ्ग का समुद्र है ऐसा नहीं !

ठीक इसी तरह हमारा आपका यद्यपि वास्तविक भेद नहीं है। तथापि मायाकृत व्यवहार सिद्ध भेद विद्यमान है।

ऐसी दशा में भी हे प्रभो ! मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं। यदि कहा जाय कि भक्ति के लिये पारमार्थिक भेद ही अपेक्षित है। अभेद ज्ञान भक्ति का प्रतिबन्धक है। सो भी उचित नहीं मालूम पड़ता। कारण कि प्रथम तो भेद लोक में अनादिकाल से प्रसिद्ध ही है। लोक प्रसिद्ध ही भेद को लेकर परमानर्थ के हेतु तथा नश्वर भी कांचन, कामिनी आदि विषयों में अनिवार्य्य प्रेम देखा जाता है। यहाँ तक कि भावुकों ने "कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी के जिमि दाम" इत्यादि बचनों से भगवान् में तादृश प्रेम पाने की बड़ी उत्कण्ठा प्रकट की है।

अतः व्यावहारिक भेद से प्रेम सिद्धान्त के निर्वाह में कोई अनुपपत्ति नहीं ! दूसरे यह कि अभेद प्रथमोपस्थित ही नहीं है। क्योंकि अभेद ज्ञान तो धर्मानुष्ठान पूर्वक भगवदाराधनादि द्वारा विशुद्ध स्वान्त को ही श्रवणादि में बड़े प्रयास से सिद्ध हो सकता है। फिर वह प्रेम में (ही) प्रतिवन्धक क्यों हो सकता है ? इस वास्ते सिद्ध हुआ कि व्यवहार भेद या द्वैत लेकर भगवत् प्रेम सम्यक् सम्पादन किया जा सकता है।

सो प्रथम प्रसिद्ध ही है। प्रतिबन्धक भी उसका कोई उपस्थित नहीं। अतः द्वैतियों का अद्वैतियों के साथ भी कोई

विरोध नहीं हो सक्ता यदि द्वैतियों का भगवत् प्रेम में परमतात्पर्य्य न होकर द्वैत या भेद सिद्धि में हो तात्पर्य्य हो तब अवश्य अद्वैतियों के साथ विरोध अनिवार्य्य है।

क्योंकि अद्वैतियों का तो परमतात्पर्य्य या परमपुरुषार्थ निष्प्रपञ्च ब्रह्म अद्वैत सिद्धि में ही है समान विषय में विरुद्ध विकल्प अवश्य ही विरोधका प्रयोजक होता है, परन्तु सो हो नहीं सकता। क्योंकि द्वैत भेद आबालगोपाल सर्वत्र प्रसिद्ध है। अतः उसके साधन का प्रयास व्यर्थ है।

यदि द्वैत सिद्धि ही मोक्ष या परम पुरुषार्थ की हेतु होती तो अनायास ही समस्त प्राणी अब तक विमुक्त हो गये होते ! नाना प्रकार कर्मोपासना ज्ञानादि साधनोपदेश करने वाले वेद शास्त्रों की आवश्यकता ही (क्या थी) नहीं होती। कठिनातिकठिन तप आदियों की भी कोई आवश्यकता न होती !

इसी वास्ते सूरदास प्रभृति अर्वाचीन भक्त शिरोमणि भी निःसार संसार की सत्यता असत्यता के झगड़े में न पड़कर केवल भव भयहारी भगवान् के प्रेम में ही निमग्न रहते थे।

प्रेमतत्त्व पर भी यदि कुछ गम्भीर दृष्टि से विचार किया जावे तो वस्तुतः प्रेमतत्त्व व्यवधानाऽसहिष्णु होने से अभेद का ही पोषक है। जहाँ भावुकों को अनुरागातिशय से प्रियतम के संश्लेषकाल में

रोमालियों की भी उद्गति व्यवधायक होने से सहृदय हृदय वेद्य अनिर्वाच्य व्यथा पहुँचाने वाली होती है।

पुत्रवत्सला (जननी) प्रिय पुत्रको प्रेम से हृदय में लगाकर पुनः पुनः चिपटाने का प्रयत्न करती है। तब क्या प्रेम को व्यवधानाऽसहिष्णु नहीं कहा जा सकता! वस्तुतः जहाँ जितनी मात्रा में प्रेम-तत्त्व का आधिक्य है, वहाँ उतनी ही मात्रा में व्यवधान या पार्थक्य असह्य है। इन्हीं अभिप्रायों से उत्तरोत्तर आचार्यों ने जीव तथा परमेश्वर के असाधारण संबंध अर्थात् व्यवधान रहित संबंध सिद्धि के लिये विशिष्टाऽद्वैत "द्वैताऽद्वैत" इत्यादि अभेदानुगुणपक्ष स्वीकार किया है।

श्रुति भी "आत्मनस्तु कामाय देवा प्रिया भवन्ति" इत्यादि वचनों से स्वभिन्न देवादि में गौण प्रेम, तथा व्यवधान शून्य स्वात्मा में ही सर्वातिशायी प्रेम को प्रदर्शित कर प्रेम को व्यवधानाऽसहिष्णुत्व स्वाभाव्य सिद्ध करती है। प्रेम का स्वरूप ही वस्तुतः रसमय है। रसस्वरुप वस्तु परमात्मा ही है। "रसो वै सः" भाव विशेषों से द्रुतचित्त पर अभिव्यक्त जो निखिल रसामृत सिन्धु भगवत् तत्त्व, वही प्रेमपदवाच्य होता है। प्रेम उक्त प्रकार से स्वाश्रय विषय में व्यवधान मिटाने के अनुकूल है। जैसे रश्मिजाल या प्रकाश अपने उद्गमस्थल आदित्य में ही

निरतिशय तथा अव्यभिचारीभाव से रहताहै। अन्यत्र साति-शय तथा व्यभिचारी भाव से ही रहता है।

ठीक वैसे सर्वान्तरतम प्रत्यगभिन्न परम प्रेमास्पद रसस्वरूप भगवत्तत्त्व से ही प्रादुर्भूत रसमय प्रेमतत्त्व निरतिशय तथा अव्यभिचारी भाव से अपने उद्गमस्थल ही में होता है।

अन्यत्र सातिशय एवं व्यभिचारी भाव से होता है। जैसे— एकही समुद्र में समुद्रतरंग एवं परस्पर संबन्ध वस्तुतः अविभिन्न होते हुए भी त्रिधा व्यवहृत तथा अनुभूत होते हैं। वैसे ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत निखिल सौख्य जिसके तुषार के समान हैं, उसी अचिन्त्याऽनन्त सौख्य सुधासिन्धु परमतत्त्व में परम विशुद्ध आह्लादिनी शक्ति के सम्बन्ध से प्रेम तथा उसके आश्रय विषय का अद्भुत चमत्कार कारी अनुपम विकाश है।

प्रेमतत्व के लिये जैसे स्वाभिवृद्ध्यर्थं स्वाश्रय विषय का विप्रयोग अपेक्षित है। उससे भी कहीं अधिक अव्यवधान लक्षण संप्रयोग भी अपेक्षित होता है।

क्योंकि प्रथम किसी तरह संप्रयोग संपन्न होने पर ही विप्रयोग भी रसका अभिव्यञ्जक होता है।

विप्रयोगाग्नि संतप्त भावुक का संप्रयोगाऽमृत बिना जीवन ही असंभावित है। यह बात दूसरी है कि बहिरङ्ग अल्पदर्शी देशादिकृत व्यवधान राहित्य में ही तृप्त हो जाते हैं। सूक्ष्मज्ञ तथा अन्तरङ्ग

भावुक, देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत, समस्त व्यवधान राहित्य बिना नहीं तृप्त होते !

यही बात स्वात्म समर्पण रूप भक्ति के विषय में भी समझना चाहिये । अर्थात् कुछ महानुभाव वित्त, पुत्र, कलत्र, देहादि समर्पण कर स्वरूप का अस्तित्व रखते हुए भी तृप्त हो जाते हैं । एवं कुछ महानुभाव अपरिच्छिन्न स्वप्रकाशात्मक परमतत्त्व में अनेकाऽनर्थोपप्लुत जीव भाव का पृथक् अस्तित्व की कल्पना स्वप्रकाश सूर्य्य में अंधकार की कल्पना के समान अनुचित समझ कर स्वस्वरूप को भी भगवान् में सर्वथा समर्पण कर भगवान की पूर्णता के बाधक का अपनयन करते हैं ।

इसी वास्ते भगवान् भी अभेद का समर्थन करते हैं । "विभक्त मिव च स्थितम्" परमतत्त्व वस्तुतः एक होता हुआ भी सुर, नर, तिर्यगादि रूप से बहुधा स्थित है । विभक्त मिव इत्यादि स्थलों में जो तटस्थ ईश्वर की विभक्तवत् व्यवस्थिति मानते हैं उनके यहाँ अप्रसिद्धरूपदोष अनिवार्य्य है । क्योंकि स्वरूप से परमेश्वर विभक्तवत् अर्थात वस्तुतः एक परन्तु पृथक २ स्थित के समान होता है । यह अत्यन्त अप्रसिद्ध है । "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" क्षेत्रज्ञ त्वं पदार्थ को मां विद्धि परमात्मस्वरूप ही समझना चाहिये । क्षेत्रज्ञ शब्दका जीवही अर्थ है । परमेश्वर नहीं । क्योंकि जैसे माया का असाधारण सम्बन्ध परमेश्वर के साथ है ।

अतः "मायिनं तु महेश्वरम्" के अनुसार मायी महेश्वर है। तैसे ही क्षेत्र का असाधारण सम्बन्ध जीव से ही है। अन्यथा क्षेत्र दुःखादि का सम्बन्ध भी परमेश्वर में अनिवार्य्य होगा। क्षेत्रज्ञ तथा मां का यदि एकही अर्थ है तब अभेद संबंध से शाब्दबोध भी असम्भव है यदि पृथक् है तो भी उद्देश्य विधेय में लक्षण लक्ष्य की तरह ज्ञातता अज्ञातता अपेक्षित है।

"रामं सीता पतिं विद्धि" इत्यादि स्थलों में भी ज्ञात राम को उद्देश्य कर अज्ञात सीता पतित्त्व विधेय है। यहाँ भी दो में एक को उद्देश्य कर एक को विधेय मानना चाहिये। क्षेत्रज्ञ यदि ईश्वर रूप से प्रसिद्ध है तो उसे ईश्वरत्त्व विधान व्यर्थ है यदि अप्रसिद्ध है तो भी ईश्वरत्त्व विधान निष्प्रयोजन है। ईश्वर को क्षेत्र ज्ञातृत्त्व विवक्षित हो ताभी "एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः" इत्यादि वचनों से क्षेत्रज्ञ पृथक् निर्देश व्यर्थ होगा। क्योंकि क्षेत्र ज्ञाता को सीधे ईश्वर बतलाया जा सकता था।

फिर क्षेत्रज्ञ संज्ञा निर्धारण कर परम्परा से ईश्वरत्त्व कहना सर्वथा अपार्थक है। सर्वज्ञ को क्षेत्रज्ञ मात्र कथन प्रतिकूल ही है। क्षेत्रज्ञ शब्द से यदि परमेश्वर कहा गया, तब जीव का स्वरूप पृथक् दिखलाना चाहिये। भोग्य वर्ग प्रतिपादनानन्तर भोक्तृ वर्ग का निरूपण ही संगत होने से भोक्तृवर्ग को लङ्घन कर नियन्ता का

प्रति पादन भी असंगतहै। इस वास्ते "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" इत्यादि श्रुति अनुसार प्रसिद्ध क्षेत्र तथा उसके ज्ञाता को अनुवाद कर यथा योग्य वाध सामानाधिकरण्य या मुख्य सामानाधिकरण्य से परमात्मत्व विधान ही भगवान् को अभिप्रेत है।

अतएव पैंगी रहस्य श्रुति भी "अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञ" इत्यादि वचनों से शारीर अर्थात् शरीराभिमानी जीवको ही क्षेत्रज्ञ बतलाती है। यदि शारीर शब्द का अर्थ भी "शरीरे भवः" इस व्युत्पत्ति से परमेश्वर मानें तो शरीर में होने वाला व्यापक आकाश भी शारीर पद से कहा जा सक्ता है। परयेलोका ऽप्रसिद्ध है अतः ठीक नहीं।

सारांश यह निकला कि अद्वैत सिद्धान्त सर्वाऽविरुद्ध एवं भगवान् और उनके भक्तों को सर्वथा अभिमत है। अतः सोपा- नारोह क्रम से सभी सिद्धान्त उक्त सिद्धान्त के अनुकूल हैं। कोई २ महानुभाव यह भी कहते हैं कि उक्त अद्वैत सिद्धान्त में सगुण भगवान् भी व्यावहारिक या मिथ्या तत्त्व हैं। तव मिथ्यातत्त्व में अनुरक्ति कैसे संभावित हो सकती है। परन्तु विचार करने से यह कथन निर्म्मूल है। जैसे प्राची दिक् सम्बन्ध से पूर्णचन्द्र का सम्यक् प्रादुर्भाव होता है उसी तरह परम विशुद्ध अनिर्वाच्य दिव्य शक्ति के संबंध से परमतत्त्व का दिव्य मङ्गलमय विग्रह रूप में प्रादुर्भाव होता है।

व्यावहारिक कहने का भी अर्थ अलीक या रज्जुसर्प के समान नहीं हो सकता जैसे—पार्थिवत्व अंश में बराबर होते हुए भी हीरकादि में महद् वैषम्य है। एवं व्यावहारिकत्त्व अंश में बराबर होते हुए भी विष अमृत में महान् भेद है। ठीक इसी तरह जग-दुपादानभूता माया शक्ति तथा भगवान् के मङ्गलमय विग्रह रूप में विकाश का निमित्तभूत विशुद्ध शक्ति में महान् प्रभेद है। जैसे मेघादि अस्वच्छ पदार्थ के सम्बन्ध से यद्यपि सूर्य्य स्वरूप समावृत है परन्तु विशुद्ध काँचादि के योग से सूर्य्य स्वरूप समावृत न होकर प्रत्युत अधिक विशुद्ध रूप में प्रकट होता है।

ठीक वैसे ही अचिन्त्य विशुद्ध शक्ति के योग से परमतत्त्व का स्वरूप समावृत भी नहीं होता। प्रत्युत आत्माराम मुनीन्द्रों के भी चित्त को आकर्षण करने वाले दिव्य स्वरूप में प्रकट होते है। इतना भेद अवश्य है कि अद्वैत सिद्धान्ती जहाँ तक तरफ भगवान् को अचिन्त्यानन्त समस्त कल्याण गुण गणास्पद मानते हैं वहाँ दूसरी तरफ "निर्गुणं, निष्क्रियं, शान्तम्" इत्यादि श्रुतियों के अनु सार सत्ता भेद से निर्गुण, निष्क्रय, निष्कल भी मानते हैं।

अन्यान्य सिद्धान्ती केवल सगुणतत्त्व को ही मानकर निर्गुण का सर्वथा अपलाप ही करते हैं। अर्थात् सगुण को ही प्राकृत गुण गण राहित्य के अभिप्राय से निर्गुण भी कहते हैं। द्वैती लोग

आदित्यतत्त्व के समान सगुण भगवान् को मान कर आतप के समान निर्गुणतत्त्व को मानते हैं। अद्वैतियों का कहना है कि गुणादियों की आवश्यकता स्वाश्रय में सौख्यातिशय या महत्त्वातिशय सम्पादन के लिये ही हो सकती है।

परमतत्त्व अनन्त पद समभिव्याहृत ब्रह्म पद तथा "एतस्य वाऽऽनन्दस्य मात्रा मुपजीवन्ती" इत्यादि श्रुति से निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वत: सिद्ध है। अतः गुणकृत अतिशयता राहित्य तथा निर्गुणत्त्व श्रुति के अनुरोध से स्वतः निर्गुण ही तत्त्व में गुण स्वतः अपने गुणत्त्व सिद्ध्यर्थ भगवत्तत्त्व का समाश्रयण करते हैं। इस वास्ते भगवान् स्वरूप से निर्गुण होते हुए भी सगुण कहे जा सकते हैं।

"निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्"

(श्री० भा० ए०)

आदित्यस्थानीय सगुण तत्त्व आतपस्थानीय निर्गुण तत्त्व देश में यदि अविद्यमान है तब तो परिच्छिन्नता अनिवार्य्य है। यदि निरतिशय रूप से सर्वत्र परिपूर्ण है तब नामान्तर से निर्गुण परम तत्त्व ही हुआ। क्योंकि अतिशयता की कल्पना-जहाँ जाकर स्थगित हो जाती है। (वही) निरतिशय प्रज्ञानानन्दघन परमतत्त्व कहलाता है।

नाम में कोई विवाद नहीं यदि शून्यवादी या विज्ञानवादी इसी

तत्त्व को शून्य या विज्ञानतत्त्व शब्द से कहते हों तो अद्वैतियों का नाम मात्र में कोई विवाद नहीं। यदि "असद्वा इद मग्र आसीत्" इत्यादि श्रुति तथा दार्शनिकों से प्रसिद्ध क्षणिक विज्ञान संतति या तत्क्षय रूप अत्यन्ताऽसत विज्ञान या शून्य मानते हों तो उक्त परम तत्त्व से महान् भेद सुस्पष्ट सिद्ध है। अतः उक्त प्रकार से परमतत्त्व स्वरूप से निर्गुण और निरपेक्ष होते हुए भी सगुण तथा साकार है। जैसे—प्राचीदिक्, चन्द्राभिव्यक्ति में, वायु, तरङ्गाभिव्यक्ति में निमित्त मात्र है। ठीक उसी तरह अचिन्त्याऽनिर्वाच्य परम विशुद्ध शक्ति भी भगवान् के सगुण स्वरूप में प्रादुर्भाव के निमित्त मात्र है। जैसे—प्राची या वायु स्वयं चन्द्र या तरङ्ग रूप नहीं है। उसी तरह विशुद्ध शक्तिमात्र सगुण भगवान् नहीं हैं ?

भगवान् तो स्वतः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव ही हैं। इसी भाँति से तत्त्वदर्शी सर्व स्वरूप प्रत्यक् चैतन्या भिन्न प्रज्ञानानन्दघन भगवान् में आत्मभाव से प्रतिष्ठित हुये भी व्यावहारिक भेद समाश्रयण कर अपरिगणित कन्दर्प दर्प दलन पटीयान् सौन्दर्य्य सुधासिन्धु के मुनि मन मोहक माधुर्य का भी समास्वादन करते हैं।

इस तरह से यद्यपि अकुटिल भाव से श्रुति स्मृति तदनुकूल तर्कानुमोदित मार्ग द्वारा समस्त विरुद्ध धर्म एवं सिद्धान्तों का

साक्षात् या परम्परया सामञ्जस्य वेदों के परमतात्पर्य्य विषयभूत भगवान् में निर्विवाद सिद्ध है तथापि लीला विशेष अभिनय के लिये वस्तुत: अनन्य पूर्विकाओं में भी अन्य पूर्विकात्त्व के लोक दृष्टि सिद्ध आरोपवत् अभिप्राय भेद से सकल विवादास्पदत्त्व भी लीलामय के स्वरूपाऽननुरूप नहीं है।

विश्वेश्वरयतीन्द्रस्य, श्रीगुरोश्चरणाब्जयो: ।
कृति रेषा-र्पिता, भूयान्मुदे सुमनसां सदा ॥

❀ शुभम् ❀